नईदुनिया

संपादकीय

अब छात्रों का परदेस से मोहभंग

यह खबर चौंकाने वाली है कि बीते साल विदेश जाने वाले छात्रों की संख्या में 25 फीसदी की कमी आई है। जबकि अमेरिका जाने वाले छात्रों की संख्या में 36 और कनाडा जाने वाले छात्रों की संख्या में 34 फीसदी की कमी आई है। कमोबेश यही स्थिति ब्रिटेन की भी है। ये आंकड़े वर्ष 2024 के हैं। निश्चित तौर पर जब ट्रंप काल में उखाड़-पछाड़ के दौर के आंकड़े सामने आएंगे, तो वे ज्यादा चौंकाने वाले होंगे। एक समय था कि छात्रों में परदेस जाकर पढ़ाई करने का जुनून उफान पर था। हर साल मां-बाप खून-पसीने की कमाई से और अपना पेट काटकर बच्चों को पढ़ने के लिये विदेश भेज रहे थे। कहीं-कहीं तो खेत बेचकर और घर गिरवी रखकर बच्चों को विदेश पढ़ाने के लिए भेजने के मामले भी प्रकाश में आए। दरअसल, देश में बैंकों से एजुकेशन लोन मिलने की सुविधा ने भी छात्रों की विदेश यात्रा को सुगम बनाया। हर साल लाखों छात्र सुनहरे सपने लिये विदेश गमन कर रहे थे। ये जुनून पंजाब में विशेष रूप से देखा गया, जो कनाडा-अमेरिका आदि देशों में संपूर्ण भारत से जाने वाले छात्रों का साठ फीसदी था। जरूरी नहीं था कि ये सारे छात्र मेधावी थे और सब दुनिया के शीर्ष विश्वविद्यालयों में दाखिला पा रहे थे। इनमें कई विश्वविद्यालय ऐसे भी थे जो सिर्फ विदेशी छात्रों से कमाई करने के मकसद से चलाए जा रहे थे। वहीं कुछ विश्वविद्यालय ऐसे भी थे जो अवैध रूप से लोगों को विदेश भेजने वाले एजेंटों की कमाई का जरिया बने हुए थे। युवाओं को छात्र के रूप में इन देशों में भेजकर मोटी रकम वसूली जा रही थी। दरअसल, धीरे-धीरे छात्रों और उनके अभिभावकों को हकीकत का अहसास होता चला गया। उन्होंने महसूस किया कि वे मोटा पैसा खर्च करके जैसे-तैसे डिग्री तो पा सकते हैं, लेकिन ये नौकरी व ग्रीन कार्ड की गारंटी नहीं है। हां, कुछ छात्र किसी तरह छोटे-मोटे काम-धंधे करके अपनी पढ़ाई का खर्चा व घर का कर्जा उतारने का जुगाड़ जरूर कर लेते थे।

दरअसल, धीरे-धीरे अमेरिका, ब्रिटेन व कनाडा सरकारों के दुराग्रहों व उनकी प्राथमिकताओं ने छात्रों को खुरदुरी जमीन के यथार्थ से रूबरू करा दिया। छात्रों को एजेंटों ने जो सब्जबाग दिखाए थे, उनकी हकीकत सामने आने लगी। इसके अलावा कोरोना काल के बाद बिखरती अर्थव्यवस्थाएं, नौकरी के आकर्षक प्रस्तावों में कमी, वीजा मिलने में हो रही दिक्कतें, इन देशों के गोरी चमड़ी वाले लोगों के भारतीयों पर बढ़े हमलों ने छात्रों में मोहभंग की स्थिति उत्पन्न कर दी। बीते साल अमेरिका में कई भारतीय छात्रों पर नस्लीय हमले हुए। कई छात्रों की हत्या हुई और अनेक घायल हुए। कनाडा व ब्रिटेन में भारत विरोधी अभियानों तथा कनाडा में जस्टिन ट्रूडो के भारत विरोधी रवैये ने भी छात्रों का मोहभंग किया। वैसे देखा जाए तो विदेशी मुद्रा अर्जित करने के बजाय हम हर साल अरबों रुपये इन देशों को भेज रहे थे। दूसरी ओर छात्रों के विदेश जाने के मोहभंग होने का सार्थक पहलू यह भी है कि अब ये प्रतिभाएं देश में रहकर राष्ट्र के विकास में योगदान दे सकती हैं। कुदरत का नियम है कि अपनी उर्वरा भूमि में ही पौधे अनुकूल वातावरण के चलते खिलते-निखरते हैं। ये हमारे नीति-नियंताओं की विफलता है कि आजादी के सात दशक बाद भी हम देश को अंतर्राष्ट्रीय मानकों वाले विश्वविद्यालय नहीं दे पाये। सामान्य शिक्षा में कौशल विकास के गुण को विकसित नहीं कर पाए। छात्रों में सरकारी नौकरियां पाने की लालसा को रचनात्मक विकल्प नहीं दे पाये। अमेरिका की सिलिकॉन वैली से लेकर आईटी से जुड़ी तमाम बड़ी कंपनियों को भारतीय प्रतिभाएं चला रही हैं। आखिर क्यों हम भारतीय मेधाओं को देश में ऐसा वातावरण नहीं दे पा रहे हैं, कि वे नई खोजों व अनुसंधान से देश को लाभान्वित कर सकें। भारत दुनिया में सबसे ज्यादा युवाओं वाला देश है। यदि हम उनकी क्षमता,योग्यता और प्रतिभा का बेहतर उपयोग नहीं कर पा रहे हैं, तो यह हमारी बड़ी नाकामी है। देश के सत्ताधीशों को इस दिशा में गंभीरता से सोचना होगा कि क्यों छात्रों में विदेश जाने की होड़ लगी रहती थी।

गंभीर चिंता का विषय है चपरासी के लिए उच्च डिग्रीधारियों के आवेदन

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

सवाल है कि आखिर हमारी व्यवस्था जा कहां रही है। इससे यह भी साफ हो जाता है कि उच्च शिक्षा प्राप्त चयनित नहीं होते हैं तो सवाल यह उठेगा कि उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले भी चपरासी की परीक्षा उत्तीर्ण नहीं कर सकें। वहीं किसी कारण से शिक्षा पूरी नहीं कर सकने वाले युवक दसवीं की परीक्षा ही पास कर सके हैं। चपरासी के पद के लिए योग्य हैं तो उच्च शिक्षितों, अनुभवियों के सामने उनके लिए तो चयन की संभावना लगभग शून्य की समझी जानी चाहिए। यदि समान योग्यता वाले आवेदन इतनी बड़ी संख्या में होते तो एक अनार सौ बीमार वाली बात तो हो जाती। फिर सीधा-सीधा यही कहा जाता कि रोजगार के अवसर कम हैं पर उच्च अध्ययन प्राप्त युवाओं के चपरासी के पद के लिए आवेदन करना हमारी केवल शिक्षा व्यवस्था ही नहीं अपितु पूरी व्यवस्था पर ही सवाल खड़े कर रहे हैं। आखिर ऐसा क्या कारण है कि युवाओं को योग्यता के आधार पर नौकरी नहीं मिल पा रही।

अब इसके लिए शिक्षा व्यवस्था को ही दोष दिया जाए, बढ़ती बेरोजगारी या फिर सरकारी नौकरी का मोह माना जाये। राजस्थान के सरकारी दफ्तरों में चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी के पदों में भर्ती के लिए आवेदन मांगे गये। 20 अप्रेल तक 23 लाख 65 हजार से अधिक आवेदन प्राप्त हो चुके हैं। मजे की बात यह है कि चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों के 53,749 पदों के लिए आवेदन के लिए निर्धारित योग्यता दसवीं पास होना है, जबकि इस दसवीं पास के पद के लिए आवेदन करने वालों में बड़ी संख्या में पीएचडी, ग्रेजुएट, पोस्ट ग्रेजुएट ही नहीं तकनीकी शिक्षा प्राप्त बीटेक और बीएड जैसी योग्यताधारी शामिल हैं। इसका मतलब यह हुआ कि आईएएस, आईपीएस, प्रोफेसर, शिक्षक या प्रदेशों की सिविल सर्विस व अन्य इसी तरह के उच्च पदों की योग्यता को पूरी करने वाले युवक भी चपरासी की नौकरी के लिए आवेदन करने में किसी तरह का संकोच नहीं कर रहे। यह हालात हमारी संपूर्ण व्यवस्था को प्रश्नों के घेरों में खड़ा कर रही है।

सवाल है कि आखिर हमारी व्यवस्था जा कहां रही है। इससे यह भी साफ हो जाता है कि उच्च शिक्षा प्राप्त चयनित नहीं होते हैं तो सवाल यह उठेगा कि उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले भी चपरासी की परीक्षा उत्तीर्ण नहीं कर सकें। वहीं किसी कारण से शिक्षा पूरी नहीं कर सकने वाले युवक दसवीं की परीक्षा ही पास कर सके हैं। चपरासी के पद के लिए योग्य हैं तो उच्च शिक्षितों, अनुभवियों के सामने उनके लिए तो चयन की संभावना लगभग शून्य की समझी जानी चाहिए। यदि समान योग्यता वाले आवेदन इतनी बड़ी संख्या में होते तो एक अनार सौ बीमार वाली बात तो हो जाती। फिर सीधा-सीधा यही कहा जाता कि रोजगार के अवसर कम हैं पर उच्च अध्ययन प्राप्त युवाओं के चपरासी के पद के लिए आवेदन करना हमारी केवल शिक्षा व्यवस्था ही नहीं अपितु पूरी व्यवस्था पर ही सवाल खड़े कर रहे हैं। आखिर ऐसा क्या कारण है कि युवाओं को योग्यता के आधार पर नौकरी नहीं मिल पा रही।

इससे यह तो साफ हो जाता है कि कहीं ना कहीं पूरी व्यवस्था में ही दोष है। एक और तो सातवें वेतन आयोग के बाद से युवाओं में सरकारी नौकरी का मोह बढ़ा है। फिर रही सही कसर हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था ने पूरी कर दी है। जब चुनावों में मुख्य मुद्दा रोजगार को लेकर उठाया जाता है। चुनावों में रोजगार या यों कहें कि बेरोजगारी एक प्रमुख मुद्दा होना चाहिए, इससे नकारा नहीं जा सकता है पर केवल सरकारी नौकरी का ही चस्मा दिखाया जाता है तो परिणाम फिर इसी तरह के आते हैं। आजादी के बाद निजी क्षेत्र ने काफी विस्तार किया है। एक समय ऐसा भी रहा है कि जब युवाओं का क्रेज निजी क्षेत्र के प्रति रहता था। निजी क्षेत्र में वेतन-भत्तों के साथ ही सुविधाओं का भी विस्तार था। ऐसा नहीं है कि आज ऐसा नहीं है। आज भी निजी क्षेत्र की अनेकों संस्थाओं में अच्छा पैकेज और सुविधाएं मिलती हैं। युवाओं को विदेश जाने तक के अवसर मिलते हैं। मेडीक्लेम व अन्य सुविधाएं भी आम है। हां परफोरमेंस और टारगेट की बात अवश्य होती है। सरकारी नौकरी के पीछे भागने का कारण एक तो सर्विस को लेकर किसी तरह का तनाव नहीं होना है। यों कहा जा सकता है कि सरकारी नौकरी में जॉब सिक्योरिटी के साथ ही सुविधाओं का अंबार और पेंशन सुविधा के साथ ही जिम्मेदारी का कहीं ना कहीं बोझ नहीं दिखाई देता है। सरकारी नौकरी में तो एक तरह का समझौता हो जाता है कि जो काम के प्रति निष्ठावान है, उसे काम से लाद दिया जाता है और जो काम के प्रति अधिक गंभीर नहीं होते हैं उन्हें कहने को तो नाकारा कह दिया जाता है।

दरअसल इतना कहने भर से उन्हें काम के बोझ की मुक्ति मिल जाती है। यह तस्वीर का एक पहलू है। दूसरा एक बार सरकारी नौकरी में प्रवेश हो गया तो कोई कहने वाला तो होगा नहीं, यदि ज्यादा दिक्कत भी आती हैं तो कहीं से भी सिफारिश कराकर अपना काम चला ही लेंगे। एक बार नौकरी में प्रवेश होने के बाद ओवरएज होने तक प्रतियोगी परीक्षा के नाम पर अप्रत्यक्ष रुप से लाभ उठाया जा सकता है। इससे दो तरह की समस्या उत्पन्न होती है। एक तो वास्तव में उस योग्यताधारी के सामने नौकरी की समस्या जस की तस रह जाती है जो उस पद की योग्यता ही पूरी कर पाता है। दूसरा प्रतियोगी परीक्षा की तैयारी या फिर शैक्षणिक योग्यता के अनुसार पद नहीं मिलने के कारण सहानुभूति में अन्य कार्य ले लिया जाता है, जिससे दोहरा नुकसान होता है । एक तो उस पद के योग्य लोगों को नुकसान होता है तो दूसरा मूल पर का काम तो बाधित ही रहता है, क्योंकि जिस पद पर चयन हुआ है वह काम तो करना ही नहीं है। अभी कुछ समय पुरानी ही बात है। लगभग सभी जगह हालात यह है कि नगर निगमों में सफाई कर्मियों की भर्ती में अधिकांश उच्च शिक्षा प्राप्त होने या उच्च वर्ग से जुड़े होने के कारण चयनित होने के बाद उन्हें सफाई कर्मी का काम तो करना ही नहीं था और किया भी नहीं। उनकी सेवाएं आफिस में क्लर्की के रूप में ली जाने लगीं। इससे अधिकांश नगर निकायों की सफाई व्यवस्था तो प्रभावित हुई ही, साथ ही असली दावेदार तो बेरोजगार ही रह गए। रोजगार के नाम पर ऐसी भर्तियां हुईं जो बोझ बनकर रह गईं। यह वास्तविकता का एक पक्ष है। दूसरा पक्ष तो उच्च योग्यता होने के बाद भी उसके अनुसार नौकरी नहीं मिलना है। इसके लिए किसे दोष दिया जाए। सवाल यह उठता है कि बीटेक करने वाले युवक को इंजीनियरिंग का काम नहीं मिलता है तो फिर उसकी पढ़ाई का मतलब ही क्या है। सवाल यह भी है कि जिस तरह निजी क्षेत्र में नए-नए इंजीनियरिंग कॉलेज, एमबीए कालेज खोले गये और उनमें शिक्षकों की स्थिति, शैक्षणिक स्तर और गुणवत्ता पर ध्यान ही नहीं दिया गया तो केवल डिग्री से क्या होने वाला है।

समस्या इतनी साधारण नहीं है, जितनी इसे समझा जा रहा है। यह बढ़ती बेरोजगारी की समस्या नहीं, अपितु कहीं ना कहीं हमारी संपूर्ण व्यवस्था का ही दोष है। हालात का समग्रता के साथ विश्लेषण करना होगा, नहीं तो चपरासी हो या सफाई कर्मी। अपितु इनसे भी ज्यादा आवेदन आएंगे और भर्ती भी होगी, नौकरी पर भी आयेंगे, वास्तविक युवाओं के लिए रोजगार समस्या ही बना रहेगा। सरकारी खर्चा तो यों ही होता रहेगा पर जिस उद्देश्य से या जिस काम के लिए पदों को भरा जाना है, उसमें हालात नहीं बदलने वाले हैं। फिर यह कहना कि सफाईकर्मी है पर सफाई नहीं हो रही या चपरासी है पर चपरासी के काम करने वालों की कमी है तो हालात ऐसे ही रहने वाले हैं। यह समूची व्यवस्था के सामने चुनौती है और इसका समाधान खोजना ही होगा।

गर्मी में परिंदों की प्यास बुझाना इंसानियत की परीक्षा

प्रियंका सौरभ

कई पर्यावरण संस्थाएं बता रही हैं कि गर्मी में पक्षियों की मृत्यु दर में लगातार वृद्धि हो रही है। खासतौर पर गोरैया, कबूतर, मैना, बुलबुल जैसे छोटे पक्षी गर्मी की दोपहर में बेहोश होकर गिर जाते हैं। यदि उन्हें समय पर पानी न मिले, तो मर भी जाते हैं। पर क्या इनकी मौतें किसी समाचार का हिस्सा बनती हैं, क्या इन पर कोई सरकारी घोषणा होती है या फिर क्या इनका कोई 'एनजीओ सम्मेलन' बुलाया जाता है। दरअसल परिंदे सिर्फ आसमान की शोभा नहीं हैं, वे हमारे पारिस्थितिकी तंत्र के अभिन्न अंग हैं। वे कीट नियंत्रण करते हैं, परागण में मदद करते हैं, बीज फैलाते हैं और सबसे ज़रूरी कि वे जीवन के संगीत को बनाए रखते हैं। अगर पक्षी गायब हो गए तो यह धरती और अधिक वीरान हो जाएगी और हम भी। हमें यह समझना होगा कि ये नन्हें जीव प्रकृति की बड़ी चेतावनियाँ लेकर आते हैं। जब वे प्यास से मर रहे हैं तो समझिए कि पानी की कमी अब हमारी ओर भी बढ़ रही है। आज ज़रूरत इस बात की है कि हम 'बर्ड फ्रेंडली' समाज बनें। यह कोई बड़ा आंदोलन नहीं, सिर्फ छोटी-छोटी चीज़ें हैं। छत या बालकनी में एक मिट्टी का पानी भरा कटोरा रखें।

तेज़ होती गर्मी, घटते जलस्रोत और बढ़ती कंक्रीट संरचनाओं के कारण पक्षियों के लिए पानी और छांव जैसी बुनियादी ज़रूरतें भी दुर्लभ होती जा रही हैं। परिंदे हमारी प्रकृति का अभिन्न हिस्सा हैं और अगर वे गायब हो गए तो यह धरती और भी सूनी हो जाएगी। आधुनिक समाज वातनुकूलक (ए.सी.) चलाने में सक्षम है, लेकिन पक्षियों के लिए एक कटोरा पानी रखने में असफल। हर व्यक्ति अपने स्तर पर छोटे-छोटे प्रयास करके इस स्थिति को बदल सकता है, जैसे छत या बालकनी में पानी रखना, पेड़ लगाना और बच्चों में करुणा की भावना जगाना। यह सिर्फ परिंदों के लिए नहीं, बल्कि इंसानियत के लिए भी एक परीक्षा है कि क्या हम वाकई इंसान हैं।

गर्मी अब सिर्फ तापमान नहीं रही, यह अब एक त्रासदी बन गई है, खासकर उनके लिए जिनकी आवाज़ न अख़बार में छपती है, न टीवी पर आती है, और न ही सोशल मीडिया की ट्रेंडिंग लिस्ट में। बात हो रही है उन छोटे-छोटे परिंदों की जो इस तेज़ धूप, सूखी हवाओं और कंक्रीट के जंगल में चुपचाप प्यास से तड़प कर मर जाते हैं। कोई पानी डाल दे तो मैं भी चोंच भर पी लूं...यह पंक्ति अब किसी कविता की कोमल कल्पना नहीं रही, यह एक जीवित सच्चाई है। एक निरीह पुकार जो हर दोपहर किसी छत पर, किसी सूखी डाल पर, किसी तपती खिड़की की जाली के पीछे से उठती है। हमने पेड़ काटे, तालाब पाटे, छज्जों को सीमेंट से बंद कर दिया और टीन की छतों से सूरज को और गर्म कर दिया। आधुनिकता के नाम पर हमने अपने घरों को एसी से ठंडा किया, लेकिन परिंदों के लिए एक घूंट पानी छोड़ना भूल गए। पक्षियों के घोंसले बनाने की जगहें कम होती जा रही हैं। अब उनके लिए न पेड़ बचे, न परछाई, न ही वह परंपरागत संस्कृति, जिसमें हर घर की मुंडेर पर मिट्टी का एक कटोरा पानी से भरा होता था।

कई पर्यावरण संस्थाएं बता रही हैं कि गर्मी में पक्षियों की मृत्यु दर में लगातार वृद्धि हो रही है। खासतौर पर गोरैया, कबूतर, मैना, बुलबुल जैसे छोटे पक्षी गर्मी की दोपहर में बेहोश होकर गिर जाते हैं। यदि उन्हें समय पर पानी न मिले, तो मर भी जाते हैं। पर क्या इनकी मौतें किसी समाचार का हिस्सा बनती हैं, क्या इन पर कोई सरकारी घोषणा होती है या फिर क्या इनका कोई 'एनजीओ सम्मेलन' बुलाया जाता है। दरअसल परिंदे सिर्फ आसमान की शोभा नहीं हैं, वे हमारे पारिस्थितिकी तंत्र के अभिन्न अंग हैं। वे कीट नियंत्रण करते हैं, परागण में मदद करते हैं, बीज फैलाते हैं और सबसे ज़रूरी कि वे जीवन के संगीत को बनाए रखते हैं। अगर पक्षी गायब हो गए तो यह धरती और अधिक वीरान हो जाएगी और हम भी। हमें यह समझना होगा कि ये नन्हें जीव प्रकृति की बड़ी चेतावनियाँ लेकर आते हैं। जब वे प्यास से मर रहे हैं तो समझिए कि पानी की कमी अब हमारी ओर भी बढ़ रही है।

आज ज़रूरत इस बात की है कि हम 'बर्ड फ्रेंडली' समाज बनें। यह कोई बड़ा आंदोलन नहीं, सिर्फ छोटी-छोटी चीज़ें हैं। छत या बालकनी में एक मिट्टी का पानी भरा कटोरा रखें। पेड़ लगाएं, खासतौर पर नीम, पीपल, अमरूद जैसे देशी वृक्ष। बच्चों को परिंदों के बारे में बताएं, दया, संवेदना और जुड़ाव सिखाएं। गर्मियों में पशु-पक्षियों के लिए छाया और पानी की व्यवस्था करें। मंदिरों-मस्जिदों-गुरुद्वारों जैसे स्थलों को भी प्रेरित करें कि वे पक्षियों के लिए पानी की व्यवस्था करें। यह काम किसी सरकार का इंतज़ार नहीं करता। यह आपके हाथ में है। हम ए.सी. चलाने के लिए हज़ारों की बिजली जला देंगे, लेकिन एक कटोरा पानी रखने में कंजूसी कर जाते हैं। हम स्मार्ट सिटी बनाने के लिए करोड़ों बहा देंगे, लेकिन स्मार्टनेस इतनी नहीं कि बेजुबानों के लिए भी कुछ छोड़ सकें। हमारे समाज में अब 'करुणा' भी इंस्टाग्राम रील बन गई है सिर्फ दिखावा भर, पर असर नहीं। गाँवों में भी अब पुराने तालाब सूख रहे हैं, बावड़ियाँ टूट चुकी हैं और पशु-पक्षियों के लिए पीने का पानी अब मुश्किल हो गया है। एक समय था जब गाँव में हर कुएँ की मेड़ पर परिंदे पानी पीने आते थे। आज वही कुएँ सीमेंट से बंद कर दिए गए हैं। शहरों ने गाँवों को विकास तो दिया, लेकिन वह विकास पक्षियों के लिए विनाश बन गया।

जलवायु परिवर्तन का सबसे पहला और सीधा असर बेजुबानों पर पड़ता है। तापमान में जरा-सी वृद्धि भी इनके लिए प्राणघातक हो सकती है। इंसान तो पंखा चला लेता है, बर्फ खा लेता है, डॉक्टर के पास चला जाता है। पर चिड़िया कहां जाए, कबूतर किससे कहे कि वह प्यासा है। हम खुद को बुद्धिजीवी, संवेदनशील, शिक्षित और विकसित कहते हैं, लेकिन क्या कोई भी ऐसी सभ्यता वाकई 'विकसित'कहलाने लायक है जो अपने साथ रहने वाले जीवों को मरता देखे और फिर भी चुप रहे। हर गर्मी हमें यह सोचने का मौका देती है कि इस बार क्या हम अपने घर की छत, खिड़की, बालकनी या आंगन में एक कोना ऐसा बना सकते हैं, जहां कोई छोटा परिंदा अपनी चोंच भर पानी पी सके।

आजकल

बाल तस्करी बढ़ने का कारण है गरीबी

भारत में बाल तस्करी बढ़ने का सबसे बड़ा कारण गरीबी है। भुखमरी, अशिक्षा और बेरोजगारी की वजह से गरीब परिवारों के बच्चे सर्वाधिक असुरक्षित हैं। आजीविका का साधन न होने के कारण लोग अपने बच्चों को किसी न किसी काम में लगा देते हैं। बाल तस्करों की नजर अस्पतालों में जन्म लेने वाले नवजात शिशुओं पर ही नहीं, ऐसे बच्चों पर भी होती है जो ढाबों-होटलों और ईंट-भट्ठों पर काम कर रहे होते हैं। इन्हें अगवा कर बेच दिया जाता है।

कई बच्चे भीख मंगवाने वाले गिरोह के चंगुल में फंस जाते हैं। बच्चियां यौन शोषण का शिकार होती हैं। आदिवासी इलाकों से बच्चे रहस्यमय ढंग से लापता हो जाते हैं। थानों में उनकी सुनवाई नहीं होती। एक अस्पताल से नवजात शिशु के गायब होने और उसे बेचे जाने के मामले में शीर्ष न्यायालय ने उचित ही कड़ा रुख दिखाया है। इसमें दोराय नहीं कि बाल तस्कर समाज के दुश्मन हैं। इसे लेकर सुप्रीम कोर्ट की चिंता वाजिब है। अगर अस्पतालों से शिशु गायब होते हैं, तो उन पर सख्त कार्रवाई होनी चाहिए। उनके लाइसेंस रद्द होने चाहिए।

यह छिपी बात नहीं कि भारत में बच्चों को किस तरह अगवा कर उनका बचपन छीना जा रहा है। उन्हें बालश्रम और यौन कर्म में तो झोंका ही जाता है, अंग तस्करी का शिकार बना कर उनकी जान को जोखिम में डाल दिया जाता है। यह मानवीय गरिमा के खिलाफ है। ताज्जुब है कि इस तरह की गतिविधियां पुलिस तंत्र की नाक तले वर्षों से चल रही हैं। एक तरफ तो बच्चों के गायब होने की रपट आसानी से लिखी नहीं जाती, दूसरी तरफ बहुत कम बच्चे तस्करों के चंगुल से छूट कर घर लौटते हैं।

उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, ओड़ीशा और मध्यप्रदेश में बाल तस्करी के मामले अधिक दर्ज होते हैं। यहां ऐसे मामलों में लगातार वृद्धि हुई है। हालांकि अभिभावकों के जागरूक होने से मामले दर्ज होने लगे हैं। वहीं देश भर की अदालतों में बाल तस्करी के कई मामले लंबित हैं। शीर्ष अदालत के ऐसे मामलों की जानकारी देने और जल्द सुनवाई पूरी करने के निर्देश से बाल तस्करी के मामलों पर लगाम लगने की उम्मीद बनी है।

भारतीय हॉकी का यादगार साल और बाकी मलाल

प्रदीप मैगज़ीन

नदी की धार की तरह समय बहता है, जिसमें अतीत और वर्तमान के मिश्रण से कुछ नया पैदा होता है। विगत के कुछ क्षण ऐसे होते हैं जिन्हें हम भुला देना चाहते हैं। और फिर गर्व भरी कुछ ऐसी युगांतकारी घड़ियां भी होती हैं, जो एक राष्ट्र के रूप में हमारी सामूहिक पहचान को पुष्ट करती हैं, जिनका खुशनुमा अहसास हम कभी छोड़ना नहीं चाहते।

कोई पचास साल पहले, देश में आपातकाल घोषित कर दिया गया था। उस वर्ष 1975 को भारत के लोकतांत्रिक इतिहास के सबसे काले अध्यायों में से एक माना जाता है, लेकिन हॉकी प्रेमियों के लिए वह साल हर्षोल्लास का रहा।

आपातकाल से करीब तीन महीने पहले, 15 मार्च, 1975 को, भारतीय हॉकी टीम ने देश के सपने को साकार कर दिखाया, जब कुआलालंपुर में विश्व कप हॉकी चैंपियनशिप जीती, एक ऐसी उपलब्धि जो इससे पहले, और बाद में भी, कभी हासिल नहीं की गयी। यह ऐतिहासिक जीत तब मिली थी, जब किसी वक्त अजेय रही टीम, जिसने कभी आठ ओलंपिक स्वर्ण जीते थे लेकिन सत्तर का दशक आते-आते 'अपराजेयता' का तमगा गंवा चुकी थी। 1960 में भारत को ओलंपिक विजेता की गद्दी से उतरना पड़ा था। देश विभाजन के चलते अस्तित्व में आया पाकिस्तान भारतीयों के लिए तगड़ा प्रतिद्वंद्वी बनकर उभरा। इस प्रतिद्वंद्विता ने हॉकी जगत को रोमांच से भर दिया था, जिसमें भारत ने 1964 के ओलंपिक में वापसी करते हुए एक बार फिर स्वर्ण पदक जीता। इस जीत के बावजूद भारत का ग्राफ नीचे गिरता गया, जिसका असर 1968 के ओलंपिक में भी दिखा, जब वह तीसरे स्थान पर पिछड़ गया। पदक सुनहरी से बदलकर तांबई हो गया।

अगले सात साल भारतीय हॉकी टीम के पैर नहीं लग पाए, नंबर एक का रुतबा जाता रहा और 1980 के मास्को ओलंपिक के अलावा कोई ओलंपिक स्वर्ण हाथ नहीं आया। मॉस्को में जीता ओलंपिक स्वर्ण पदक कई मायनों में अलग था क्योंकि जर्मनी, ऑस्ट्रेलिया, अर्जेंटीना, इंग्लैंड और पाकिस्तान जैसे तगड़ी टीमों द्वारा बायकॉट के कारण इसका महत्व कम हो गया था। 1975 में विश्व कप जीतना एक तरह से टीम की आखिरी बड़ी हॉकी उपलब्धि है।

वह विश्व कप प्राकृतिक टर्फ (घास) पर खेले जाने वाले चंद प्रमुख हॉकी आयोजनों में से एक था, क्योंकि तब तक हॉकी की दुनिया में बदलाव आने लगा था और अंतर्राष्ट्रीय टूर्नामेंट के लिए सिंथेटिक टर्फ पसंदीदा विकल्प बन रहा था। इसका भारत पर बहुत विपरीत असर पड़ा, क्योंकि सिंथेटिक टर्फ पर भारतीयों की कलाई की लचक, चकमा देने के कौशल में श्रेष्ठता की तुलना में फिटनेस, गति और स्टेमिना अधिक मायने रखते थे। कुआलालंपुर में 32 में से 8 मैच बारिश के कारण स्थगित करने पड़े थे, इसने भी विश्व हॉकी महासंघ के अंतर्राष्ट्रीय टूर्नामेंट सिंथेटिक टर्फ पर खिलाने के फैसले को गति दी। यह भारत में हाकी के लिए घातक झटका रहा,जो पहले ही प्रशासकों की आपसी खींचतान और भाई-भतीजावाद से पीड़ित थी, परिणामस्वरूप 1975 विश्व कप आयोजन भारत से मलेशिया स्थानांतरित किया गया था।

एक ओर जहां खिलाड़ी बड़े आयोजन की तैयारी कर रहे थे, भारतीय हॉकी महासंघ के दक्षिणी और उत्तरी गुट गलाकाट प्रतिद्वंद्विता में व्यस्त थे। अदालत में चल रहे मामलों और इस खेल के दो सबसे शक्तिशाली प्रशासक- दक्षिण से व्यवसायी एमएएम रामास्वामी और पंजाब से पूर्व आईपीएस अधिकारी अश्विनी कुमार- के बीच कलह के कारण, अंतर्राष्ट्रीय खेल संघ ने विश्व कप आयोजन भारत से बाहर स्थानांतरित किया।

उत्तर लॉबी के खिलाफ भाई-भतीजावाद के आरोप थे, जिसमें उन पर भारतीय टीम में पंजाबियों को भरने का आरोप लगाया गया। साल 1968 के ओलंपिक में मिली पराजय के पीछे गलत चयन और पक्षपात को जिम्मेदार ठहराया गया कि 16 सदस्यीय टीम में नौ खिलाड़ी एक ही समुदाय से थे। यह लेख प्रशासकों पर न होकर, भारतीय हॉकी की जीत और उससे जुड़ी कई कहानियों की गाथा है। एक ऐसा देश जहां खेल उपलब्धियों का रिकॉर्ड बहुत कम या नगण्य हो, पिछले महीने उसकी राजधानी नई दिल्ली स्थित शिवाजी स्टेडियम में किस्सों और तथ्यों से भरपूर एक किताब का विमोचन किया गया।

जिसके संयुक्त लेखकों में एक हैं, के. अरुमुगम जिन्होंने केंद्र सरकार में अपनी उपनिदेशक की नौकरी छोड़कर नब्बे के दशक में अपनी सारी ऊर्जा और समय भारत में हॉकी के उत्थान में लगा दिये। इस पुस्तक के सह लेखक हैं, अनुभवी खेल लेखक एरोल डीक्रूज़। पुस्तक का नाम है 'मार्च ऑफ़ ग्लोरी: विश्व कप 1975 में भारतीय विजय गाथा'। यह जीत कैसे हासिल हुई, यह किताब उसका विस्तृत किस्सा है।